International Research Journal of Human Resources and Social Sciences
Vol. 4, Issue 1, January 2017 Impact Factor- 5.414
ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218)
© Associated Asia Research Foundation (AARF) Publication
Website: www.aarf.asia Email : editor@aarf.asia , editoraarf@gmail.com

# मीडिया की दुनिया का सच और दलित उपस्थिति

**डॉ.कविता आचार्य,** सह आचार्य

राजकीय कन्या महाविद्यालय, भरतपुर।

आज का मनुष्य अपने अनुभव संसार को अधिक से अधिक परिपूर्ण कर लेना चाहता है। वह चाहता है कि अनुभव– जगत भी परिपूर्ण हो जावे और मनोरंजन भी साथ–साथ होता रहे। इसी क्रम में आज के प्रसारण माध्यम और पत्रकारिता उसके सहयोगी बनते है। प्रसारण माध्यमों में टी.वी. रेडियों और सिनेमा सबसे प्रमुख माध्यम है तो मुद्रित माध्यम के रूप में पत्रकारिता के विविध रूप हमारे सामने है। मैं कह सकता हूँ कि टी.वी. और पत्र–पत्रिकाओं एवं सिनेमा ने मनुष्य की न केवल जिज्ञासाओं को शांत किया है अपितु न जानने के उसके अभाव को भी पूरा किया है, तो दूसरी ओर इसके समानान्तर मनोरंजन प्राप्ति की मानवीय लालसा को भी पूरा किया है। कहा जा सकता है कि श्रव्य–दृश्य और लिखित माध्यमों ने मानवीय मनोरंजन की दुनियों में आमूल परिवर्तन कर दिया है, इक` साथ मनुष्य की तमामतर जिज्ञासाओं को तृप्त करके और अनुधनातन जानकारियों से मानव को लबरेज कर दिया है। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि इलेक्ट्रिोनिक एवं प्रिन्ट मीडिया का कोई न कोई रूप या माध्यम प्रायः प्रत्येक घर में मौजूद है। इस मौजूदगी को हम टी.वी. रेडिया या अखबार और पत्र–पत्रिकाओं के रूप में देख सकते है।

आधुनिक भारतीय समाज के विभिन्न वर्गो को देखने पर दलित वर्ग की दयनीय स्थितियों पर भी हमारी नजर बरबस खिंची चली जाती है। भारतीय समाज को आदिकाल में ही चार–वर्णो में विभाजित कर दिया गया था। प्रारंभ में ये वर्ण योग्यता और कर्म पर आधारित थे। व्यक्ति को स्वतंत्रता रही होगी कि वह अपनी योग्यतानुसार वर्ण परिवर्तन कर ले किन्तु कालान्तर में यह उदारवादी व्यवस्था रूढ़िवादी व्यवस्था में परिवर्तित होकर जड़ व्यवस्था का

रूप प्राप्त कर गयी। इस नयी व्यवस्था में वर्ण रूढ होकर सर्वकालिक हो गये और जो जहॉ था, जन्म जन्मांतर के लिए वहीं का मान लिया गया । जो जिस कर्म में रत रहते हुए अपनी आजीविका प्राप्त करता था, वह कर्म और आजीविका का साधन उसके लिएपुश्तैनी घोषित कर दिया गया। यहीं से भारतीय समाज जाति व्यवस्था के मकड़जाल में जकड़ गया। श्रम पर आधारित जीवन जीने वाली लगभग सभी जातियां हेय दृष्टि से देखी जाने लगी और अश्यपृश्य घोषित कर दी गयी। समाज के सारे भले–भले काम अश्यपृश्य की परिधि से बाहर कर दिये गये। समाज में शिक्षा भी अश्यपृश्यों के लिए वर्जित कर दी गयी। फलस्वरूप अश्यपृश्य ठहरा दिया गया वर्ग जो कि समाज का बहुलांश था शिक्षा की लक्ष्मण रेखा से बाहर कर दिया गया।

शिक्षा पाने के अधिकार–नैसर्गिक अधिकार से जिस वर्ग को वंचित कर दिया गया था, यही वर्ग कालान्तर में दलित कहलाया। यही दलित वर्ग काल की गति के साथ पददलित होता हुआ स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सावचेत हुआ और इसने अपनी बदहाली के कारणों को समझना शुरू किया। न केवल समझना शुरू किया अपितु कारणों का निवारण करना भी शुरू किया। शिक्षा और अम्बेडकर की प्रेरणा उसकी चेतना का माध्यम बनी। इसी सचेतनता की वजह से दलित वर्ग आरक्षण का लाभ लेकर सरकारी वृत्तिधारी बना और उसने अपनी नियति को जानना–पहचानना आंरभ किया। जिन चीजों से अब तक वह अपरिचित था उन चीजों या ज्ञान से वह शिक्षा के माध्यम से परिचित होने लगा। उसकी माली हालत में जब थोड़ा सुधार हुआ तो उसका परिचय टीवी, रेडियो, सिनेमा और पत्र–पत्रिकाओं से भी हुआ।

शुरुआती काल में रेडियो, टीवी, सिनेमा आदि प्रसारण माध्यमों के द्वारा सामाजिक परिवर्तन का सपना देखा गया और निःसन्देह इसमें कुछ सफलता भी मिली। मुझे याद करना चाहिए कि जाति–पांति तोड़कर स्वस्थ समाज के निर्माण के सपने के साथ अचेक फिल्में बनी। इन फिल्में में सामाजिक सरोकारों का स्वर प्रमुख रूप से सुनाई देता था। यह स्वर चाहे अंतर जाति विवाहों के रूप में या अमीर–गरीब के बेटे–बेटियों के विवाह के रूप में सेल्यूलायड पर दिखाया जाता था, जिससे यह संकेत होता था कि जाति प्रथा अप्रासंगिक हैं, निरर्थक है, अतःत्याज्य है। अमीर और अमीरी के अत्याचारों से नायक–नायिका लड़ते–भिड़ते एवं जीतते

बताये जाते थे। एक सतत् संघर्ष की स्थिति थी अमीर एवं गरीब वर्ग के बीच में, जो युवकों को जाति प्रथा एवं अन्याय के विरोध में लाभबंद होने के लिए प्रेरित करती थी। यही स्थिति प्रिन्ट मीडिया की भी थी। प्रिन्ट मीडिया भी सामाजिक समरसता के संदेश का वाहक था। जहॉ स्वस्थ समाज का सपना ही प्रमुख सपना था। सम्पादकगण या पत्रकार बन्धु सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक मिशन के तहत कार्य करते थे।

कालान्तर में टी.वी., रेडियो, सिनेमा और पत्र–पत्रिकाओं की दुनिया का विस्तार हुआ और नयी से नयी प्रविधि का प्रयोग होने लगा। इसी दौरान आर्थिक उदारीकरण की आंधी में अधिक से अधिक धन कमाना उद्देश्य बन गया और सामाजिक समरसता की बात अतीत का सपना बन गयी। बाजार की मुनाफा प्रवृत्ति ने प्रसारण माध्यमों एवं प्रिन्ट मीडिया को भी अपनी चपेट में ले लिया। ''जाति तोड़ों या अन्याय का प्रतिकार करों'' की भावना मुनाफावृत्ति की लालसा के जंगल में न जाने कहां खो गयी। ''बाजार'' मुनाफाखोरों का अखाड़ा बन गया और बाजार की इन शक्तिशाली गतिविधियों ने प्रच्छन्न तरीके से टी.वी., कम्प्यूटर, सिनेमा, इन्टरनेट आदि पर सवार होकर दुनिया के हरके घर में अपनी घुसपैठ कर ली है। पूरा घर और समाज बाजार की इन शक्तियों के कब्जे में चला गया और रूचियों के परिष्कार के नाम पर हम मल्टीनेशनल द्वारा उत्पादित अवांछित वस्तुओं के खरीददार बनने को मजबूर कर दिये गये है। जीवन का कोई सा भी क्षैत्र बाजार की इन कुटिल शक्तियों की पकड़ से छूटा हुआ नहीं रह सका है। यहॉ तक कि हमारे शयन कक्ष का एकांत और अन्तरंगता के क्षण और क्रियाऐं भी बाजार के आक्रमण से अछूती नहीं रह सकती है।

''तीसरी ऑख'' के रूप में टी.वी. , इन्टरनेट और प्रिन्ट मीडिया ने हमारे एकांत को हमसे छीन लिया है। टी.वी. और रेड़ियों के अन्तहीन प्रसारण पूरी दुनिया को अपनी गिरफ्त में लिए बैठे है। इन्टरनेट के फैलते जाल–संजाल में अपेक्षित–अनपेक्षित सूचनाओं का वमन पढ़े लिखों के सामने करना आरंभ कर दिया है। समाज का लगभग प्रत्येक व्यक्ति अपेक्षित–अनपेक्षित सूचनाओं की इस ऑधी में उड़ता हुआ चमत्कृत हो रहा है। ज्ञान–विज्ञान के ये नवीन माध्यम आज के मनुष्य का मनोरंजन कर रहें है।

अब में थोड़ी चर्चा चाक्षुक माध्यमों के उजले पक्ष की भी करना चाहूँगा। मेरी दृढ़ मान्यता है कि चाक्षुक माध्यम बड़े, सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन का वाहक एवं माध्यम बन सकते थे, क्योंकि इन माध्यमों की पहुँच दुनिया के हर कोने तक है, हर व्यक्ति तक है। गरीबी, शिक्षा, सामाजिक, असमसता, नारीगत समस्याऐं दलित समस्याऐं, कृषि विज्ञान आदि के क्षेत्र में आमूल चूल परिवर्तन के वाहक ये माध्यम बन सकते थे, बशर्ते की सरकारों के पास सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन का कोई ठोस 'विजन' होता। लगता है कि मनोरंजन के नाम पर अपसंस्कृति का प्रचार–प्रसार और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा उत्पादित सामानों का विक्रय पत्र की चाक्षुक माध्यमों का लक्ष्य मात्र है। सत्ता और पूंजी के तंत्र तले ये माध्यम भी अपना वास्तविक रूप–स्वरूप और उपयोगिता खोते गये है। जहां इनकी पहुँच व्यापक और सरोकार गहरे एवं विस्तृत होने चाहिए थे, वहॉ ये पूंजीपतियों के ''टूल'' मात्र बन कर रह गये है। जरा गौर कीजिए कि वर्तमान में किसी टी.वी. सीरियल को आज से सौ–पचास साल बाद के लोगों को दिखाया जावे तो क्या वे जान सकेंगे कि भारत में कितनी गरीबी, बेरोजगारी, जातिगत असमानता, छुटाछूत, दलित उपेक्षा, दलित चेतना और आर्थिक विपन्नता थी? इरगिज नहीं, क्योंकि टी.वी. के परदे से गरीब–गरीब , बाहर है, दलित बाहर है, दलित चेतना बाहर है, शोषित समाज बाहर है, सामाजिक समरसता को बढ़ावा देने वाली चिन्ता बाहर है, आर्थिक – अभावों से जुझते लोग बाहर है, बेरोजगार बाहर है, सामाजिक सरोकार बाहर है। हॉ! साम्प्रदायिक ताकतें, मंदिर – निर्माण यात्राऐं, संस्कारों के नाम पर जड़ता बांटते निठल्ले साधु–सन्यासी लोगों की पराश्रयी जमात कुटिल और वैष्णवी मुस्कानों के साथ हाजिर है, कर्म की प्रतिष्ठा करते चरित्रों के स्थान पर धार्मिक पाखण्ड और भाग्यवाद को पालते–पोसते सन्त मौजूद है। सामाजिक समरसता सिरे से गायब है और मौजूद है नरेन्द्र मोदी जैसे नेताओं के अट्टहास करते दंभी चेहरे, धार्मिक यात्राओं के रथ यात्राओं के अन्तहीन रैल मौजूद है, गायब है बन्द हो चुकी मिलों के बेरोजगार मायूस चेहरे, जन आन्दोलन और प्रतिरोधी शक्तियॅा सिरे से गायब है, दलित अस्मिता के प्रश्न गायब है, क्योंकि ये सब माल बेचने का माध्यम नहीं बन सकते।

संक्षेप में चाक्षुक माध्यमों पर या ''माल'' बनकर माल बेचती नारियां है या सामाजिक धाराविकों के नाम पर असामाजिक हरकतें करते पात्र है, और चौबीस घन्टे सनसनी बॉटते न्यूज चैनल्स मौजूद है। सब कुछ मौजूद है, केवल 'जन' और जन की पीड़ाओं को छोड़ कर फिर भला हमारे लिए टी.वी. प्रासंगिक कैसे हो सकता है? नहीं होना चाहिए ओर नहीं हो सकता परन्तु टी.वी. हमारे लिए प्रासंगिक ही नहीं, नितांत प्रासंगिक है यही विडम्बना है।

अब मैं थोड़ी सी बात सिनेमा पर भी करना चाहूँगा जो कि एक बड़ा दृश्य माध्यम है, मनोरंजन का प्रमुख साधन है। एक जमाना था जब सिनेमा गहरे सामाजिक सरोकारों को दिखाता था। समाज परिवर्तन की चाह लिए हुए पात्र संघर्षरत दिखाये जाते थे। मरते दम तक ये पात्र सामाजिक जड़ताओं, जातिपांति, छुआछूत, गरीबी, अशिक्षा के बंधनों से मुक्ति का प्रयास करते हुए अमीरी–गरीबी की खाई को पाटते हुए दिखलाऐ जाते थे। जमींदार, सामन्त और सूदखोर महाजन के प्रतीक 'विलेन' से निरन्तर लड़ते–भिड़ते, संघर्ष करते हुये विचित्र किये जाते थे, पूँजी का विरोध, जाति का विरोध, शोषण का विरोध, असमानता का विरोध, स्वनिर्णय के विरोध का विरोध, रूढ़ हो चुकी परम्पराओं और अप्रासंगिक हो चुकी रीतियों का विरोध करते पात्रों की भरमार वाले चलचित्र बहुतायत में बनते थे जहॉ स्त्री–पुरूष को स्वनिर्णय के अधिकार के लिए लड़ते और जीतते हुए दिखाया जाता था, अन्तर जातिय विवाह, जाति–तोड़ों आन्दोलन के प्रतीक रूप में चलचित्रों में आम बने थे, जन आन्दोलन, मजदूर–आन्दोलन, आदि सिनेमा के वर्ण्य विषय हुआ करते थे। समाज के अन्याय रूढ़ियों, परम्पराओं के विरोधी 'एग्रीयंगमेन' अमिताभ बन गये थे, ओमपुरी, मिथुन चक्रवर्ती, नाना पाटेकर, गिरिश कर्नाड, अमोल पालेकर, संजीव और वहिदा रहमान, शर्मिला टेगौर, स्मिता पाटिल, शबाना आजमी आदि अभिनता–अभिनेत्रियां सामाजिक सरोकारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन रही थी, वहीं सत्यजीत रॉयल मृणाल सेन, गोविन्द निहनाली, गुलजार आदि कला या समानान्तर सिनेमा के माध्यम से समाज परिवर्तन की मुहीम का हिस्सा बनकर चलचित्रों का निर्माण कर रहे थे एवं नयी सोच और समझ के साथ समाज परिवर्तन की दिशा दिखाते हुए युवकों को दर्शकों के तौर पर 'मोटीवेट' कर रहे थे। गरीबी–अमीरी की खाई को पाटने वाले किरदारों के द्वारा अन्तर्जातीय विवाहों को फिल्मी परदें पर ही सही अंजाम दे रहे थे, तो

लग रहा था कि विस्तृत सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन में सेल्युलाइड की यह दुनिया अपना अमूल्य योगदान दे सकती है और ये सब अपनी–अपनी सीमाओं में अपना काम बखूबी कर रहे थे, परन्तु नवें दशक की शुरूआत में सिनेमा ने भी करवट लेनी शुरू की और सामाजिक सरोकारों से अलग होकर व्यक्तिपरक सिनेमा का प्रचलन हुआ और प्रसार बढने लगा। इस दौर के सिनेमा में नायक–नायिका के लिए समाज में परिवर्तन का लक्ष्य गौण ही नहीं एकदम गायब हो गया। नायक–नायिका के लिए मात्र पेड़ों के ईर्द–गिर्द, नदियों–समुद्रों के किनारे, पहाड़ की तलहटी और वन–उपवन में एक दूसरे से लिपटकर नाचना गाना ही लक्ष्य बना दिया गया और खण्डाला जाकर खाना–पीना, मौज मस्ती करना मात्र लक्ष्य बन गया। शुचिता उठाकर ताक पर रख दी गई और वस्त्रों के नाम पर केवल नाम मात्र के वस्त्र नायिका के तन पर बच गये। तनउघाडु फिल्मों में नायिका की देह को ज्यादा से ज्यादा ''एक्सपोजर'' मिलने लगा और कटि और कुच दर्शन के माध्यम से दर्शकों को लुभाया जाने लगा। फिल्मी परदें पर चुबंनों की भरमार हो गई और बेडरूम–बाथरूम सीन आम हो गये। फिल्मी परदें से समाज– सामाजिक सरोकार, गरीबी, अभाव, संघर्ष, शोषण से मुक्ति के प्रयास, सामंतवाद, सूदखोरी, पिसला–पिटता–मरता दलित, शोषण आदि का विरोध सिरे से गायब होकर नाचना–गाना ही प्रमुख हो गया। समाज परिवर्तन की राह से , सामाजिक सरोकारों से आज का सिनेमा मुक्त होकर बेलगाम हो गया और उन्मुक्त भोग एवं निर्बन्ध देह–दर्शन का प्रमुख विषय हो गया। सिनेमायी ''गंगा–मैंली हो गयी, और ''चोली के पीछे क्या है'' इसकी तलाश होने लगी। आदरणीय नारियां नायक को ''तू चीज बड़ी है मस्त–मस्त'' लगने लगी। सार्थक सिनेमा, प्रयोग धर्मी सिनेमा, कला सिनेमा या समानान्तर सिनेमा मुक्त नारी देह के जंगल में आकर दम तोड़ गया। संजीव, नसीरूद्धीन, अमोल पालेकर, अनुपम खेर, शफी इमामदार, शबाना आजमी, नाना पाटेकर, मृणाल सैन, गोविन्द निहलानी, सत्यजीत रॅाय का सिनेमा अतीत का अंग बन गया। शेष रह गया पूजा भट्ट, मल्लिका शेरावत, रानी मुखर्जी, सत्यजीत रॅाय का सिनेमा अतीत का अंग बन गया। शेष रह गया पूजा भट्ट, मल्लिका शेरावत, रानी मुखर्जी, रेश्वर्या राय, प्रियंका चौपड़ा, अमीषा पटेल, सुष्मिता सैन और शाहरूख खान, आमीर खान, संजय दत्त, गोविन्दा आदि का अर्थहीन, तर्कहीन सिनेमा, जिसमें न समाज था न सामाजिक सरोकार थे फिर भला यहा सिनेमा किस रूची का परिष्कार करता? संक्षेप में

कहा जा सकता है कि सिनेमा ने अपने पूर्वार्ध  में तो समाज को दिशा–निर्देश देने का प्रया किया परन्तु उत्तरार्ध में आते–आते सिनेमा खुद दिशाहीन हदेहों–निर्वस्त्र  देहरों के जंगल में भटककर रह गया।

मिड़िया के प्रसंग में अब में थोड़ी सी चर्चा प्रिन्ट मीड़िया की भी करना चाहूँगा क्योंकि प्रिन्ट मीड़िया ने भी शिक्षित समुदाय को वर्तमान में बेहद प्रभावित कर रखा है। अनेक अखबार एवं अनेक पत्रिकाऐं बाजार में उपलब्ध है। अखबारों के माध्यम से भी समाज को दिशा दी गयी थी, ऐसा इतिहास में दर्ज है। स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास इस बात का गवाह है कि अखबारों और तत्कालीन समय में निकलने वाली पत्रिकाओं ने समाज परिवर्तन की दिशा में न्यूनाधिक योग दिया था। जैसे कि गॉधीजी की सदारत में निकलने वाला पत्र 'हरिजन' स्वतंत्रता आन्दोलन का प्रमुख पत्र था, जिसमें दलितोद्धार से संबंधित बातें छपा करती थी। इस पत्र के माध्यम से गॉधी वंचितों–दलितों से संबंधित अपने विचार प्रस्तुत किया करते थे। वर्तमान समय में योगदान की यह विरासत पत्र–पत्रिकाओं से गायब है, हॉ कभी कभी ही दलितों से संबंधित चिन्ताऐं और विमर्श के लिए मोहनदास नैनिषराय, उदित राज, डॉ. धर्मवीर, श्यौदान सिंह बैचेन, आदि दलित लेखकों के लेख देखने को मिलते है। हमें स्वीकारना चाहिए की नवीन की नवीन तकनीक के आगमन से पत्र–पत्रिकाऐं लुभावनी शक्त, सूरत वाले तो बने है परन्तु गुणवत्ता (सामाजिक दृष्टि से) की दृष्टि से समाज, दलित समाज के लिए, नारी समाज के लिए ये कोई बहुत ज्यादा उपयोगी नहीं रह गये है।  पत्र, सनसनी परोसने का माध्यम बनकर रह गये है, वहॉ अब सृजनशीलता, सामाजिक चिन्ताओं और दलितों–वंचितों के विमर्श के लिए कोई स्थान रिक्त नहीं है। पत्र पत्रिकाओं में विज्ञापनों, अधनंगी–नंगी नारी देहों की भरमार है। हिन्दी पत्र–पत्रिकाऐं जरूरत समाज से, सामाजिक सरोकारों से बावस्ता है, परन्तु इनकी संख्या सीमित है  और ये भी पूँजीपति घरानों से या उनकी आर्थिक मदउद से प्रकाशित हो रही है अतः सामाजिक परिवर्तन इनका भी लक्ष्य नहीं हो सकता। हॉ कुछेक पत्रिकाऐं जरूर अपवाद है जिनमें सामाजिक सरोकार अब भी मौजूद रहते है इनमें छपने वाले लेखक स्त्री–दलितों, पिछड़ों आदि से न केवल संबंधित है, अपितु स्त्री विमर्श और दलित

विमर्श में रत है। इनमें सबसे प्रमुख नाम राजेन्द्र यादव द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका ''हंस'' का है एवं ''कधादेश'' इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण पत्रिका है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में मैं निकर्षतः कहना चाहूँगा कि जब धर्म कुटिल व्याख्याऐं लेकर उपस्थित हो रहा हो, धर्माचार्य राजनैतिक दलों और दक्षिण पंथी नेताओं के भौंपू बन गये हो, प्रतिपक्ष अपने कुत्सित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मंदिर–मस्जिद विवाद को एक मात्र साधन मानकर दिलों में नफरतों की बर्लिन और चीन की ऊँची दीवारों सी दीवारें खड़ी करने में लगा हो, धर्म की अप्रासंगिक हो चुकी पताकाऐं फिर चारों और लहराने–फहराने लगी हो, वर्ण व्यवस्था की पुनः वकालत की जाने लगी हो, आऊटडेटेड' हो चुकी जाति व्यवस्था की जड़ों में फिर पानी डाला जा रहा हो, दलितों पर महिलाओं पर फिर अत्याचार किये जाने लगे हो, संविधान निर्माता अम्बेडकर की मूर्तियों को तोड़ा जाने लगा ओ, सम्प्रदायवाद को फिर झाड़ पौछंकर चमकाया जा रहा हो, प्रगतिशील शिक्षा व्यवस्था को नागपुर मुख्यालय और भगवा बिग्रेड से अनुमति लेनी पड़ रही हो, भारतीय सभ्यता–संस्कृति के आवश्यक गुण सहिष्णुता की बरबस हत्या की हत्या की जा रही हो, और सहिष्णुता एवं समन्वयवादिता की लाश पर विनयकटियार, उमा भारती, ऋतंभरा, अशोक सिंघल, तोगड़िया, मोदी , अट्हास कर रहे हो, चुन–चुन कर विजातीय एवं धर्म विशेष के लोगों पर गुजराती शैली में आक्रमण हो रहे हो, मानवता और दलित जीवन की भीख मॅाग रहे हो, तलवारों–धुरों–त्रिशुलों की चमक प्रतिपक्षियों प्रतिधर्मी लोगों को सहम जाने को विवश बना रही हो, पत्रकारिता, टीवी केवल सत्तधारियों–व्यापारियों का हुक्का भरते हुये सामान और सनसनी बेच रहे हो, चलती बसों में महिलाओं का दिन–दिहाड़े शीलभंग किया जा रहा हो, हर प्रगतिशील गतिशील कदम का एक विचारधारा विशेष के अनुषंगी संगठनों द्वारा उग्र विरोध किया जा रहा हो, शिक्षा और शिक्षण संस्थाओं में साम्प्रदायिकता का जहर घोला जा रहा हो, पूॅजीपतियों की इच्छाओं के अनुरूप सरकारी सम्पत्तियॅा कौड़ियों के मौल लुटाई जा रही हो, बेरोजगारी, महंगाई, सुरसाके मुख समान विकराल रूप ग्रहण कर रही हो, देश के महत्वपूर्ण निर्णय संतों की निठ्ठल्ली परजीवी जमात पर छोड़े जा रहे हो, लघु उद्योगों की कीमत पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियॅा विजय का अट्टहास कर रही हो, शिक्षा पूॅजी–पतियों के हाथों मुक्त छोड़ दी गयी हो, दलितों–वंचितों के

लिए अच्छे शिक्षण संस्थानों के प्रवेश द्वार बंद कर दिये गये हो, चारो और सिनेमा से लेकर रेम्प और पत्रिकाओं के पन्नों तक पर नंगी नारी देहों को परोसा बेचा, खरीदा, दिखाया जा रहा हो, मशीन और कम्प्यूटर को वरीयता देकर मानवीय हाथों की श्रमशीलता को नष्ट किया जा रहा हो, चारों और निराशा का घटाटोप अंधकार फैला हुआ हो, किसी और से भी आशा की हल्की सी किरण भी नजर नहीं आ रही हो तो उम्मीद केवल और केवल उस बुद्धिजीवी वर्ग से की जानी शेष रह जाती है जो दलित वर्ग से पढ़–बढ़ कर सचेतन बना है। ये ही होगे वो लोग जो अपनी सक्रियता से, अपनी लेखनी से, अपनी चिन्तना से इन सारी स्थितियों को बदल सकेगें अन्यथा सेठाश्रम में फल फूल रहा प्रकाशन व्यवसाय, सरकारी संरक्षण में निरंतर प्रसारणशील टी.वी. और पत्रिकारिता दलित और स्त्री एवं सामाजिक सरोकारों से असम्पृक्त ही बनी रहेगी। यूँ ही अरूण शौरी जैसे लोग ''द वर्शिप ऑफ फाल्ड गॉड'' लिखते रहेंगे । हमें निराशा के साथ कहना पड़ रहा है कि पत्रकारिता और टी.वी. की दुनिया में दलितों–वंचितों की उपस्थिति नगण्य है। यह विडम्बना ही है कि दोनों माध्यमों में इस देश का अधिकांश जनसंख्यायी भाग होते हुए भी दलित पत्रकारों, दलित लेखकों, दलित सीरियल निर्माताओं और दलित प्रकाशकों आदि की संख्या एकदम शून्य है। अतः अपनी उपस्थिति को जब तक इन माध्यमों में नहीं दिखायेगें तब तक दलित वर्ग और चेतना पर इन माध्यमों का ''फोकस'' भी नहीं होगा । अतः दलित वर्ग के पढ़े लिखे युवकों को व्यवसाय के रूप में पत्रकारिता की तकनीक और टी.वी. माध्यम की तकनीक को सीखना चाहिए। जहॉ भी जिस भी गांव में देहात में वे रहते है, उन्हें वहॉ का विवरण, समस्याऐं, पिछड़ापन, जातिगत भेदभाव के दृश्य घटनाऐं आदि लिख–लिख कर पत्र–पत्रिकाओं में भेजनी चाहिए ताकि उनकी लेखनी में सुधार आये। हालांकि दोनों ही माध्यमों पर वर्चस्ववादियों का कब्जा है। इन बर्चस्ववादियों के किलों को भेद कर वहॉ प्रवेश पाना असंभव नहीं है, परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि पराधीन भारत में अगर अपनी योग्यता के बल पर बी.आर. अम्बेडकर राजपरिवार की राजसत्ता के लिए अपरिहार्य हो गये थे, तो पत्रकारिता और टी.वी. की दुनिया में प्रवेश करना मुश्किल तो है, असंभव नहीं। क्योंकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियॉ किसी जाति–पांति में नहीं केवल योग्यता पर भरोसा करती है अतः दलित वर्ग की पीड़ाऐं– सरोकार, अभाव, चिन्ताऐं और विमर्श को अगर हाइलाईट करना है तो इन माध्यमों में अपना स्थान अपनी योग्यता से बनाना होगा।

अगर इन्हें चुनौति देना है तो जागृत बनों, कर्मशील बनो, आगे बढ़ो, बस भवानी प्रसाद की इन काव्य पंक्तियों में से अपनी बात को विराम देता हूँ :–

''कुछ पढ़ के सो, कुछ लिख के सो,

जिस जगह जागा सवेरे, उससे आगे बढ़ के सौ''